दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष नववाँ
अंक चौथा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

आषाढ़
२४७९

जैनशासन का प्रथम कर्तव्य

अहो! ज्ञानप्रकाशी भगवान आत्मा का निर्णय किए बिना जीव को कभी धर्म नहीं हो सकता; जीव ने अनंत काल में सब किया परन्तु "मैं स्वयं ज्ञानस्वभावी हूँ"—इसप्रकार अपने स्वभाव का निर्णय कभी नहीं किया। स्वसन्मुख होकर "मैं ज्ञान हूँ"—ऐसा निर्णय करना, वह अनंतकाल में नहीं की हुई अपूर्व वस्तु है। "मैं ज्ञान हूँ"—ऐसा अंतर में ज्ञानवस्तु का निर्णय और अनुभव करना, वह समस्त जैनशासन का सार है। कोई पूछे कि पहले हमें क्या करना चाहिये?—तो ज्ञानी कहते हैं कि "मैं ज्ञानस्वरूप हूँ"—ऐसा अंतर में निर्णय करके उसका अनुभव करना चाहिए।—यही जैनशासन में प्रत्येक जीव का प्रथम कर्तव्य है।

[—प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१००

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[टाइटिल पृष्ठ ३ का शेषांश]

❀ श्रावकों को षट्आवश्यक ❀

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयतस्तपः।
दानश्चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥७॥

—श्री पद्मनन्दि पंचाविंशतिका

जिसप्रकार कमल के अन्दर भ्रमर समा जाता है, उसीप्रकार जिनके ज्ञानकमल में यह जगत और अजगत सदैव स्पष्टरूप से समा जाते हैं, उन नेमिनार्थ तीर्थंकरभगवान की मैं पूजा करता हूँ कि जिससे उत्ताल तरंगोंवाले समुद्र को भी दो भुजाओं से पार कर लूँ।

—श्री नियमसार

जिन्होंने उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, द्रव्यस्वातंत्र्य, क्रमबद्धपर्याय, स्वानुभूति, चारित्रदशा—इत्यादि का सर्वज्ञप्रणीत यथार्थ स्वरूप समझाया, तथा परद्रव्यों का, शुभाशुभभावों का और शुद्धभाव का भी अवलम्बन छुड़ाकर परम पारिणामिकभाव के प्रति वृत्ति को मोड़ा, उन परमोपकारी करुणासागर कल्याणमूर्ति श्री ''कहान गुरुदेव'' को अत्यंतात्यंत भक्तिभाव से वंदन हो, वंदन हो!

सूचना

(१) सोनगढ़ में श्री मानस्तंभ-महोत्सव के समय दो मनीबेग मिले हैं; उनमें से एक में कुछ रुपये हैं और दूसरे में चिल्लर है; यह मनीबेग जिनके हों वे विश्वास दिलाकर ले जायें।

(२) प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय बोली गई बोलियों की रकमें जिन भाइयों के पास बाकी हैं, वे कृपया जल्दी भेज देवें।

—श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म

आषाढ़ : २४७९ ☆ वर्ष नववाँ ☆ अंक चौथा

समवशरण कब और किसे होता है ?

[समवशरण का स्वीकार करने वाला जीव कैसा होता है ?]

वीर सं. २४७८, ज्येष्ठ कृष्णा ६ के दिन सोनगढ़ के समवसरण में श्री सीमंधर भगवान की प्रतिष्ठा को दस वर्ष पूर्ण होकर ११ वाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ; उस महोत्सव-प्रसंग पर— पूज्य स्वामीजी का मंगल-प्रवचन।

[गतांक से आगे]

जिनसे तीर्थंकर नामकर्म का बंध हो, सर्वार्थसिद्धि का भव मिले, आहारक शरीर की प्राप्ति हो, तथा जिनसे चक्रवर्तीपद की प्राप्ति हो—ऐसे परिणाम सम्यग्दृष्टि को ही होते हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि को उनकी भावना नहीं होती और सभी सम्यग्दृष्टियों को वैसे परिणाम नहीं होते; जिसमें उस-उसप्रकार की योग्यता हो, उसी को वैसे परिणाम होते हैं। किसी सम्यग्दृष्टि को भी अनादि-सांत संसार में वैसे परिणाम कभी आते ही नहीं। अरे! संसार में जिन्होंने स्वर्ग या नरक का एक भी भव नहीं किया हो, अनादि निगोद में से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त कर लें—ऐसे जीव भी होते हैं। देखो तो विचित्रता! कोई जीव तो अनंतबार स्वर्ग और नरक के अवतार धारण कर लेता है, और किसी जीव को अनादि-सांत संसार में स्वर्ग या नरक का भव हो, ऐसे परिणाम ही नहीं आते! एक जीव तो चक्रवर्ती या तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करता है और दूसरा जीव राजा भी नहीं होता; वह साधारण मनुष्य होकर ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जीवों के उस-उसप्रकार के विकल्पों की विचित्रता है। धर्मी को ऐसी विचित्रता देखकर आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि वह अकेली विचित्रता

को ही नहीं देखता; परन्तु एकरूप चिदानंदस्वभाव की दृष्टि को मुख्य रखकर पर्याय की विचित्रता का ज्ञान करता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को ही संसार के सभी पक्षों का भान होता है और उसी को 'संसार-भावना' होती है; अकेली पर्यायबुद्धिवाले अज्ञानी जीव को 'संसार-भावना' नहीं होती; स्वभाव क्या और संसार क्या ?—इसी का उसे भान नहीं है। अज्ञानी को अपने ध्रुवस्वभाव का भान नहीं है, इसलिए वह तो पर्यायों की विचित्रता देखकर राग-द्वेष और विस्मयता में ही अटक जाता है, और ज्ञानी को स्वभाव का भान होने से पर्यायबुद्धि नहीं होती, इसलिये उसे पर्यायों की विचित्रता देखकर विस्मय नहीं होता किन्तु प्रतिक्षण वीतरागता में ही वृद्धि होती है।

देखो, यह बारह वैराग्यभावनाएँ! इन भावनाओं में भी वास्तव में तो अपने स्वभाव का ही अवलम्बन है। स्वभाव के अवलम्बन से जितनी वीतरागता प्रगट हुई, उतनी ही सच्ची वैराग्यभावना है; बीच में शुभ-विकल्प हो, उसकी इसमें मुख्यता नहीं है। ऐसी बारह भावनाएँ अज्ञानी के यथार्थ नहीं होतीं। अखण्ड द्रव्य पर जिसकी दृष्टि नहीं है और विचित्रता के परिणाम पर ही जिसकी रुचि है, उसे पर्याय की विचित्रता में राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहते। धर्मी जीव संसार के स्वरूप का विचार करता है, वहाँ उसे पर्यायबुद्धि नहीं होती, किन्तु चिदानन्दस्वभाव की दृष्टिपूर्वक उसे इसप्रकार के विचारों की श्रेणी चलती है, उसका नाम 'संसार-भावना' है; उसमें उसे पर्याय की विचित्रता का विस्मय नहीं होता।

''मैं एक अखण्ड ज्ञायकमूर्ति हूँ, क्षणिक संसार मेरे स्वभाव में नहीं है''—ऐसे भानपूर्वक धर्मी जीव अपने वैराग्य की वृद्धि के हेतु से संसार के स्वरूप का विचार करता है कि अहो; इस संसार में कोई जीव तो ऐसे हैं कि जो अनादिकाल से तिर्यंच-पंचेन्द्रियपने को ही प्राप्त न हुए हों, उन्हें वैसे भाव ही अनादि से कभी न आए हों, और निगोद से निकलकर सीधे मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं; तथा कोई जीव ऐसे हैं कि दोइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तिर्यंच तक के अनंत भव धारण कर चुके हों; सातवें नरक से लेकर नवमें ग्रैवेयक तक के अनंत भव हो गये हों—ऐसे परिणाम उन्हें आते हैं।—ऐसी संसार की विचित्रता है! धर्मी जीव को स्व-पर की पर्यायों की अनेक प्रकार की विचित्रता ख्याल में आने से उसमें विस्मय मालूम नहीं होता, और न पर्यायबुद्धि से राग-द्वेष होते हैं। ''ऐसा क्यों?''—ऐसी शंका का प्रश्न ही उसे नहीं उठता। संसार में पर्यायों की ऐसी ही विविधता होती है।—इसप्रकार द्रव्य के भानपूर्वक धर्मी जीव, पर्याय को जानता है; उसमें उसे पर्यायबुद्धि नहीं है। जो जीव परसन्मुख दृष्टि करके निरन्तर ज्यों के त्यों तीव्र राग-द्वेष में वर्त रहा है,

वीतरागता का अंश भी प्रगट नहीं करता और कहता है कि—''जैसा होना होगा सो होगा''—तो वह प्रमादी और स्वच्छन्दी है; उसे वस्तु का कोई भान नहीं है। ''जो पर्याय होना हो, वही होती हे, उसे बदला नहीं जा सकता''—ऐसा जो यथार्थरूप से जान ले, उसे द्रव्यबुद्धि हुए बिना न रहे। पर्याय स्वतंत्र है—ऐसा माननेवाले की दृष्टि द्रव्य पर होना चाहिए; और जिसकी दृष्टि द्रव्य पर हो, उसे पर्याय में कितनी वीतरागता हो जायेगी ? द्रव्यस्वभाव की महिमा के बल से उसके प्रतिक्षण शुद्धता बढ़ती जाती है और राग-द्वेष कम होते जाते हैं; ऐसे धर्मी को वस्तुस्वरूप की यथार्थ भावना होती है।

धर्मात्मा-सम्यग्दृष्टि तो अंतर में ध्रुव स्वभाव का अवलम्बन लेकर बैठा है; वहाँ ध्रुव द्रव्य के अवलम्बन से प्रतिसमय शुद्धपर्याय होती ही जाती है; इसलिये उसे पर्याय बदलने की आकुलता नहीं होती। ''मैं इस समय ऐसी ही पर्याय करूँ''—इसप्रकार जिसे पर्याय बदलने की बुद्धि है, वह पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है; उसे पर्याय की स्वतंत्रता की प्रतीति नहीं है, और द्रव्य-गुण की भी प्रतीति नहीं है। जगत में अनंत जीव पृथक्-पृथक् होते हैं; उनके द्रव्य-गुण समान होने पर भी पर्यायें एक सी नहीं होती, पर्यायों में विचित्रता है; ऐसा ही वस्तु का पर्यायस्वभाव है।—उसे धर्मी जानता है और उसी को वस्तुस्वरूप का यथार्थ चिंतन होता है। द्रव्य-गुण एकसमान होने पर भी पर्याय के प्रकारों में अंतर क्यों ?—ऐसा संदेह या विस्मय ज्ञानी को नहीं है। विचित्रता के समय विचित्रता है; वहाँ अपने एकरूप स्वभाव पर दृष्टि रखकर धर्मी उस विचित्रता को जानता है।

आज समवशरण का मांगलिक दिवस है; समवशरण का यथार्थतया स्वीकार करने से आत्मा के स्वभाव की स्वीकृति भी साथ ही आ जाती है। वस्तुस्थिति की एक भी बात का यथार्थ स्वीकार करे तो अंतर में ज्ञानस्वभावी आत्मा की प्रतीति हुए बिना न रहे; और ज्ञानस्वभाव की स्वीकृति बिना एक भी बात का यथार्थ निर्णय नहीं होता। तीर्थंकर, पुण्य, समवशरण इत्यादि एक भी तत्त्व का यथार्थ स्वीकार करते हुए पूरी वस्तुस्थिति उत्पन्न हो जाती है।

जगत में तीर्थंकर अनादि से होते ही आ रहे हैं और समवशरण भी अनादि से हैं। भगवान महावीर परमात्मा जब यहाँ विद्यमान थे, उससमय यहाँ भी समवशरण था; और वर्तमान में पूर्व महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर भगवान साक्षात् तीर्थंकररूप से विराज रहे हैं, वहाँ इससमय समवशरण है; संत-मुनियों के समूह विचर रहे हैं; वहाँ भगवान की दिव्यध्वनि में एकसाथ बारह

अंगों का प्रवाह बहता है, एक समय में पूर्णता आती है, और बारह सभाओं में समझनेवाले जीव अपनी-अपनी योग्यतानुसार समझ लेते हैं। इस समय यहाँ भी—वक्ता के कथन की जितनी गंभीरता हो तदनुसार—कहीं समस्त श्रोता एकसमान नहीं समझते, किन्तु सब अपने-अपने क्षयोपशमभाव की योग्यतानुसार समझते हैं। सीमंधर भगवान का जो समवशरण है, वह तो महान अलौकिक है; इन्द्रों द्वारा रचित है, और वहाँ गणधरादि विराजमान हैं; यहाँ तो मात्र उसका प्रतीक है।

जगत में भिन्न-भिन्न अनेक जीव हैं; उनके द्रव्य-गुण त्रिकाल एकरूप हैं और पर्याय बदलती है; पर्याय में विकार है; उसमें किसी जीव को तीर्थंकर नामकर्म के परमाणु बंधते हैं और उसके फल में समवशरण की रचना होती है; उस समवशरण में इच्छा के बिना तीर्थंकरभगवान की दिव्यध्वनि खिरती है और वह वाणी झेलनेवाले गणधरादि जीव वहाँ होते हैं।—इसप्रकार सबकी अस्ति का स्वीकार करे, तभी समवशरण को मान सकता है।

अनेक वर्ष व्रत-तप करे या यथार्थ चारित्र का पालन करे तो उससे कहीं तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध नहीं हो जाता; परन्तु उस प्रकार की खास योग्यतावाले जीव को ही उसका बंध होता है। कोई जीव भावलिंगी संत हो, हजारों वर्षों से शुद्ध चारित्र का पालन करता हो, तथापि उसे तीर्थंकर नामकर्म का बंध नहीं होता; और गृहस्थाश्रम में विद्यमान श्रेणिक जैसे अविरती सम्यग्दृष्टि को भी तीर्थंकर नामकर्म का बंध हो जाता है। देखो तो जीवों के परिणामों की योग्यता! कोई जीव तो आत्मा का भान करके यथार्थ चारित्रदशा प्रगट करके मुनि होता है, हजारों वर्ष आत्मा के ज्ञान-ध्यान में रहता है, तथापि उसे तीर्थंकर नामकर्म का बंध नहीं होता; और चौथे गुणस्थान में विद्यमान किसी सम्यग्दृष्टि जीव को भी तीर्थंकर नामकर्म बंध जाता है। वहाँ मुनि को ऐसी शंका नहीं पड़ती कि "अरे! इस अविरती सम्यग्दृष्टि को तीर्थंकर नामकर्म का बंध हुआ और मुझे चारित्रदशा होने पर भी तीर्थंकर नामकर्म का बंध क्यों नहीं हुआ? क्या मेरे चारित्र में कुछ अपूर्णता होगी!" मुनि को तो भान है कि मेरे वीतरागी चारित्र का फल बाह्य में नहीं आ सकता। चारित्र के फल में तो केवलज्ञान होकर मोक्षदशा प्रगट होती है। तीर्थंकर नामकर्म तो राग का फल है। आत्मा के चारित्र के फल में तो अंतरंगशांति आती है। चारित्र से कहीं कर्मबंध होता है? चारित्र तो धर्म है, उससे बंधन नहीं होता, और जिस भाव से बंधन हो, उसे धर्म नहीं कहा जाता। सम्यग्दृष्टि को राग से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है, किन्तु उसे उसकी भावना नहीं है; वह राग को धर्म नहीं मानता। देखो, यह संसारभावना!

''संसार भावना''—ऐसा कहा, उसमें कहीं संसार की भावना या रुचि नहीं है; रुचि और भावना तो स्वभाव की ही है। धर्मी जीव अपने स्वभाव की दृष्टि रखकर संसार के स्वरूप का चिंतवन करते हुए उससे वैराग्य की वृद्धि करते हैं, उसका नाम संसार-भावना है। अंतरतत्त्व के भान बिना बारह भावनाएँ यथार्थ नहीं होती।

जगत में अनेक जीव हैं; वे द्रव्य से और गुण से समान होने पर भी, कोई जीव तीर्थंकर नामकर्म बाँधता है और कोई नहीं बाँधता। कोई जीव क्षायिक सम्यग्दर्शनवाला हो, तथापि उसे तीर्थंकर नामकर्म का बंध नहीं होता और कोई जीव क्षयोपशम सम्यक्त्ववाला हो, तथापि उसे तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है;—इसका कारण? वह-वह पर्याय सत् है, यही कारण है; अन्य कोई कारण नहीं है; इसलिये 'ऐसा क्यों?'—यह प्रश्न ही नहीं रहता। वस्तु सत्स्वरूप है। द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय भी सत्—इसप्रकार सत् की प्रतीति करे तो 'ऐसा क्यों?'—यह प्रश्न नहीं रहेगा, किन्तु अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होकर वीतरागता प्रगट होगी।

आज समवशरण का दिन है और संसार भावना का वर्णन चलता है। जगत में विचित्रता है! जीव भिन्न-भिन्न हैं, प्रत्येक जीव के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं, उनके निमित्त से कर्म बँधते हैं, वे भी भिन्न-भिन्न हैं, और उनके फल में संयोग प्राप्त होते हैं, वे भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं; किसी को समवशरणादि का संयोग होता है। संसार की ऐसी विचित्रता का जिसे भान हो उसे पर्याय की विचित्रता देखकर संदेह नहीं होता। संसार-अनुप्रेक्षा की ५५ वीं गाथा में स्वामी कार्तिकेय मुनिराज कहते हैं कि अहो! जगत में संसार की चारों गतियों में अनेक प्रकार के दुःख सहन करने पर भी जीव सद्धर्म में बुद्धि नहीं करता। यह सामान्य जीवों की बात है। धर्मी को तो सद्धर्म की बुद्धि है। 'सत्'—ऐसा जो अपना ज्ञानस्वभाव है, उसको जिसे अंतर में भान है, उसे संयोग-वियोग देखकर उनमें पर्यायबुद्धि नहीं होती; 'ऐसा क्यों?'—यह यह प्रश्न नहीं उठता; क्योंकि पदार्थ सत् है, इसलिये उसकी पर्याय की योग्यतानुसार ही संयोग-वियोग होते हैं। स्वभाव की दृष्टिपूर्वक ऐसी भावना भाने से वैराग्य की वृद्धि होकर धर्मी जीव को अंतर में एकाग्रता बढ़ती जाती है और सहज आनंद की वृद्धि होती है; इसलिये यह भावनाएँ भव्य जीवों को आनंद की जननी हैं। अहो! यह भावनाएँ भाने जैसी हैं। जीवों ने विषय कषाय की भावना अनादिकाल से भायी है, परन्तु अंतर में वस्तु के भानसहित ऐसी वैराग्यभावना कभी नहीं भायी। इस शास्त्र में स्वामी कार्तिकेय मुनिराज अंत में कहेंगे कि जिनवचन की भावना के लिये इन भावनाओं की रचना की है। प्रथम 'जिनवचन'

किन्हें कहते हैं, वह निश्चित करना चाहिए। जिनवचन में कहे हुए द्रव्य-गुण-पर्याय—इन तीनों का स्वरूप यथावत् समझकर और प्रतीति करके धर्मी जीव यह भावनाएँ भाता है; उसमें उसे वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी आनन्द का अंश प्रगट है। बारह भावनाओं का चिंतवन ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि का कारण है। बारह भावना भानेवाले की योग्यता कितनी?—जिसे वस्तुस्वरूप का यथार्थ भान हो, वही वास्तव में बारह भावनाएँ भा सकता है। सम्यक्दर्शन के बिना यह बारह भावनाएँ यथार्थ नहीं होतीं। 'जिनवचन की भावना के हेतु से इन भावनाओं की रचना की है, इसलिये जिसे जिनवचन के अनुसार वस्तुस्वरूप का भान हो, उसी के यह बारह भावनाएँ होती हैं। जो जिनवचन से विरुद्ध कहनेवाले कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानता हो, उसके बारह भावनाओं का चिंतवन सच्चा नहीं होता।

अहो! संसार में विचित्र संयोग और विचित्र परिणाम! उसका कारण क्या?—कि पर्याय का वैसा विचित्र स्वभाव है। मैं द्रव्य से, गुण से त्रिकाल एकरूप हूँ—ऐसी अंतरदृष्टिपूर्वक धर्मी जीव पर्यायों की विचित्रता को जानता है। क्षण-क्षण का विविध राग और संयोग तथा उसे जाननेवाला ज्ञान—यह सब स्वतंत्र हैं, और उसी क्षण ध्रुवस्वभाव भी स्वतंत्र है;—इसप्रकार सब को जानकर धर्मी जीव ध्रुवस्वभाव का आदर करता है, उसकी रुचि करके उसमें एकाग्रता करता है।

अहो! आश्चर्य है कि जगत में जीव यह मनुष्य अवतार प्राप्त करके भी क्षणिक राग और संयोग को ही देखते हैं और वहीं अपना सर्वस्व मान लेते हैं; परन्तु जिसके त्रिकाली चारित्रगुण की एक समय की विपरीत अवस्था होकर राग हुआ है, ऐसे ध्रुव चिदानन्द स्वभाव का स्वीकार नहीं करते—अंतर्मुख होकर अपने ध्रुवस्वभाव को नहीं देखते; त्रिकाली परमतत्त्व से च्युत होकर मात्र वर्तमान पर्याय को और बाह्य संयोग को ही स्वीकारते हैं; इसलिये संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं।—इसप्रकार धर्मी जीव संसारभावना का चिंतवन करते हैं। यह भावना भानेवाले को चिदानन्दस्वभाव का भान है और पर्यायबुद्धि छूट गई है, इसलिये उसे इस संसार में परिभ्रमण नहीं करना है। [स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ५६]

संसार अनुप्रेक्षा में धर्मी जीव विचार करता है कि इस संसार में धनवान हो, वह क्षण में निर्धन हो जाता है; राजा हो, वह क्षण में किंकर हो जाता है और किंकर हो, वह राजा हो जाता है।

निर्धनता में से सधनता हो, वहाँ अज्ञानी को उसमें एकत्वबुद्धि से राग होता है; सधनता के संयोग में ही उसे सुखबुद्धि है और जब सधनता बदलकर निर्धनता होती है, तब वहाँ एकत्वबुद्धि

से उसे द्वेष होता है। सधनता या निर्धनता—दोनों के समय धर्मी को अपने भिन्न ज्ञानानंदस्वभाव का भान है, इसलिये उसे संयोग में एकत्वबुद्धि नहीं होती और स्वभाव से च्युत होकर राग-द्वेष नहीं होते।

निर्धनता या सधनता हो, वह उसका (जड़ का) काल है; आत्मा उसका कर्ता नहीं है; उस समय द्वेष या राग का भाव हो, वह चारित्र की पर्याय का काल है; लक्ष्मी के कारण वह राग-द्वेष नहीं है और वह राग-द्वेष आत्मा का स्वरूप नहीं है। सधनता के समय 'यह सधनता है'—ऐसा जाने और निर्धनता के समय 'यह निर्धनता है'—ऐसा जाने, वह ज्ञान का अपना काल है; वह ज्ञान पर के कारण या राग-द्वेष के कारण नहीं हुआ है, और उस ज्ञान के अंश जितना ही आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वभावी है—ऐसा जाने तो अंतर में सब समाधान हो जाये। सधनतादि संयोगों में, राग-द्वेष में अथवा उससमय के ज्ञान में धर्मी को अपनत्व का वेदन नहीं होता, परन्तु अखण्ड चिदानन्दतत्त्व में ही अपनत्व का वेदन होता है; अखण्ड द्रव्य पर ही उसकी दृष्टि पड़ी है।

यह वस्तु तीनलोक के नाथ तीर्थंकरदेव द्वारा कथित, संतों द्वारा झेली हुई और वस्तु स्वभाव से परिचित है; यह प्रमाण से कही जा रही है। मोक्षमार्ग की यही रीति और यही मार्ग है; अन्य कोई मार्ग नहीं है; एक ओर संयोग और दूसरी ओर स्वभाव, दोनों एक समय हैं; किन्तु दृष्टि किस पर पड़ी है, उस पर धर्म-अधर्म का आधार है। बाह्य में निर्धनता हुई, अरुचि का भाव हुआ और ज्ञान में ज्ञात हुआ; वहाँ अज्ञानी उतने को ही देखता है, किन्तु उससमय संयोग और राग से रहित अपने परिपूर्ण ज्ञानानंद स्वभाव को वह नहीं देखता। अरे भाई! तू निर्धन नहीं है, राग जितना नहीं है, पर्याय जितना भी तू नहीं है; तू तो ज्ञान और आनंद से परिपूर्ण है; तुझमें त्रिकाल ज्ञानशक्ति का ऐसा अपार भंडार भरा है कि केवलज्ञानपर्याय प्रगट होने पर भी उसमें न्यूनता नहीं आ सकती;—ऐसे स्वभावसामर्थ्य का विश्वास करके उसमें एकाग्र हो तो केवलज्ञान का निधान प्रगट हो। अहो! प्रत्येक आत्मा अंतर में परमात्मशक्ति से परिपूर्ण है; परन्तु जीव अन्तरोन्मुख नहीं होते इसी से संसार में भटक रहे हैं। धर्मी जीव ने तो स्वयं अपने स्वभाव में अन्तर्मुख होकर अपना संसार-परिभ्रमण दूर किया है; उसके ऐसी संसार अनुप्रेक्षा होती है।

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की
कुछ शक्तियाँ

[९]

सर्वदर्शित्वशक्ति

आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसमें अनंत धर्म हैं, इसलिये वह अनेकान्तमूर्ति है। उस आत्मा के धर्मों का यह वर्णन चल रहा है।

समस्त विश्व के सामान्यभाव को देखनेरूप परिणमित हुए ऐसे आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्व शक्ति है। पहले, तीसरी शक्ति में 'दृशि' शक्ति का वर्णन था, वहाँ तो "अनाकार उपयोगमयी दृशि शक्ति है"—ऐसा सामान्य वर्णन था; और यह सर्वदर्शित्व शक्ति कहकर दर्शन के परिपूर्ण सामर्थ्य का विशेष वर्णन किया है। सर्व पदार्थों के समूहरूप लोकालोक को सत्तामात्र देखे—ऐसी सर्वदर्शित्व शक्ति है। आत्मा में लोकालोक को देखने की शक्ति है; परन्तु उन्हें अपना करने की अथवा उनमें उथलपुथल करने की शक्ति आत्मा में नहीं है। जिसप्रकार आँख का स्वभाव मात्र पदार्थों को देखने का है, परन्तु उनमें कुछ इधर-उधर करने का आँख का स्वभाव नहीं है; उसीप्रकार आत्मा के दर्शन-ज्ञानरूपी नेत्र हैं, उनका स्वभाव समस्त पदार्थों का देखने-जानने का है; परन्तु उनमें कुछ भी फेरफार करने का उनका स्वभाव नहीं है।

आँख से देखने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। 'मैं आँख से देखता हूँ'—ऐसा जो मानता है, उसने वास्तव में आत्मा की सर्वदर्शित्वरूप से परिणमित होने की शक्ति को नहीं माना है। यदि अपनी सर्वदर्शित्व शक्ति को जाने तो इन्द्रियों से देखना न माने और राग या अल्पदर्शिता को भी अपना स्वरूप न माने; त्रिकाली सर्वदर्शित्व शक्ति के सन्मुख होने से उन सब की महिमा छूट जाती है। साधक की पर्याय में अभी सर्वदर्शीपना प्रगट नहीं हुआ है तथापि, उसे सर्वदर्शित्व परिणमन की प्रतीति है कि सर्वदर्शित्वरूप से परिणमित होने की शक्ति मुझमें वर्तमान में भी भरी है।

सर्वदर्शीपना अर्थात् केवलदर्शन; उस केवलदर्शनरूप परिणमित होने की शक्ति यदि मुझमें न हो तो केवलदर्शन का व्यक्त परिणमन कहाँ से होगा ? त्रिकाली शक्ति की प्रतीति में उसकी व्यक्ति की प्रतीति भी आ ही जाती है।

अज्ञानी लोग अमुक बाह्य संपदा प्राप्त करने की भावना करते हैं; परन्तु यहाँ तो सारी दुनिया की समस्त संपत्ति एकसाथ ज्ञेयरूप से प्राप्त हो, ऐसा उपाय आचार्यदेव बतलाते हैं। जिसे लोकालोक की संपदा चाहिए हो, उसे आत्मा के केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्रतीति करना चाहिए। लोकालोक की संपदा कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाती; परन्तु ज्ञान-दर्शन में लोकालोक ज्ञात हों—दृष्टिगोचर हों, वही लोकालोक की प्राप्ति है। वास्तव में तो ज्ञान ज्ञान में ही है, और लोकालोक लोकालोक में है; परन्तु लोकालोक का ज्ञान हो गया, उस अपेक्षा से उसकी प्राप्ति कहलाती है। जो थोड़ा-थोड़ा मांगेगा अर्थात् अल्पता की भावना करेगा, उसे कुछ नहीं मिलेगा, और जो पूर्णता की भावना भायेगा, उसे पूर्ण की प्राप्ति होगी—सब ज्ञात होगा। इसलिये लक्ष्मी आदि पर की प्राप्त करने की भावना छोड़कर ऐसी भावना भाओ कि—जिसमें सब एक-साथ ज्ञात होता है, ऐसा केवलज्ञान हमें प्राप्त हो! इससमय केवलदर्शन की बात चल रही है; पश्चात् दसवीं शक्ति में केवलज्ञान की बात आयेगी। वस्तु में तो दोनों शक्तियाँ एकसाथ ही हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप परिणमन हो, वैसी शक्ति आत्मा में भरी है; उस आत्मशक्ति की-आत्मस्वभाव की भावना भाने से अर्थात् उसकी श्रद्धा और ज्ञान करके उसमें लीन होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन का व्यक्त परिणमन हो जाता है।

यहाँ तो कहा है कि सर्वदर्शित्व शक्ति आत्मदर्शनमयी है, अर्थात् आत्मा को देखने से उसमें तीनकाल-तीनलोक दृष्टिगोचर हो जायें—ऐसी सर्वदर्शित्व शक्ति है। आत्मा इन्द्रियों द्वारा तो नहीं देखता, और लोकालोक को देखने के लिए उसे लोकालोक के सन्मुख नहीं होना पड़ता परन्तु स्व-सन्मुख रहकर ही लोकालोक को देख ले, ऐसी आत्मा की शक्ति है। और आत्मा के ऐसे सामर्थ्य की प्रतीति भी किसी पर द्वारा या पर की सन्मुखता से नहीं होती; स्वरूपसन्मुखता से ही उसकी प्रतीति होती है।

कोई कहे कि "भगवान अनंत शक्ति सम्पन्न हैं परन्तु सर्वशक्ति सम्पन्न नहीं हैं, इसलिये भगवान अनंत को देख सकते हैं किन्तु सर्व को नहीं देख सकते"—तो ऐसा कहनेवाले को आत्मा के सर्वदर्शित्व स्वभाव की प्रतीति नहीं है, इसलिये उसने आत्मा को ही नहीं माना है। अंतर्दृष्टि के

बिना अपने को पण्डित मानकर लोग अनेक प्रकार के कुतर्क करते हैं, परन्तु चैतन्यवस्तु मात्र तर्क का विषय नहीं है; यह मार्ग तो अंतर्दृष्टि और अनुभव का है। आचार्यदेव ने यहाँ स्पष्ट कहा है कि आत्मा के दर्शनस्वभाव में सर्वदर्शीरूप से परिणमित होने की शक्ति है। सर्वज्ञता और सर्वदर्शितारूप से आत्मा का परिणमन हो सकता है—ऐसी भी जिसे प्रतीति नहीं है, उसने तो वास्तव में सर्वज्ञदेव को ही नहीं माना है; इसलिये उसे तो जैनधर्म की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है।

इन शक्तियों का वर्णन करके आचार्यदेव ने थोड़े शब्दों में बहुत रहस्य भर दिया है!

भगवान की स्तुति में आता है कि—''सव्वण्णुणं सव्वदरिसीणं''—हे भगवान! आप सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं!—स्तुति में ऐसा बोलते हैं, किन्तु भगवान जैसी ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शित्व शक्ति अपने आत्मा में भरी है, उसका विश्वास न करे तो धर्म का लाभ नहीं हो सकता, और उसने भगवान की परमार्थस्तुति की—ऐसा नहीं कहा जा सकता। भगवान में जैसी सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता है, वैसी ही सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता प्रगट होने का सामर्थ्य अपने में भी भरा है—उसका जो विश्वास करे, उसी ने भगवान की सच्ची स्तुति की है।

दर्शन समस्त पदार्थों को सामान्य सत्तामात्र देखता है; सिद्ध और संसारी, चेतन और जड़—ऐसे विभाग किये बिना ''सब हैं''—ऐसा दर्शन देखता है। तीसरी दृशिशक्ति के वर्णन में दर्शन उपयोग का कथन विस्तारसहित आ गया है। दृशिशक्ति परिणमित होकर सर्वदर्शिता हो, ऐसा उसका परिणमनस्वभाव है; अपूर्णरूप परिणमित होने का उसका स्वभाव नहीं है। लोकालोक को देखने से आत्मा लोकालोकमय नहीं हो जाता, इसलिये यह सर्वदर्शित्व शक्ति आत्मदर्शनमय है। सामने लोकालोक है, इसलिये यह सर्वदर्शिता है, ऐसा नहीं है। लोकालोक के कारण आत्मा का सर्वदर्शीपना विकसित नहीं होता; यदि लोकालोक से वह विकसित होता हो तो लोकालोक तो अनादि से हैं, इसलिये सर्वदर्शीपना भी अनादि से विकसित होना चाहिए। इसलिये कहा है कि सर्वदर्शित्व शक्ति आत्मदर्शनमय है; आत्मा के अवलम्बन से सर्वदर्शीपना विकसित हो जाता है। जिसने सर्वदर्शी ऐसे निज आत्मा को देखा, उसने सबकुछ देख लिया। यथार्थरूप से एक भी शक्ति को देखने से अनन्तगुणमय सम्पूर्ण द्रव्य ही दृष्टिगोचर हो जाता है। एक गुण की प्रतीति करने से अभेदरूप पूर्ण द्रव्य ही प्रतीति में आ जाता है; क्योंकि जहाँ एक गुण है, वहीं अभेदरूप से अनंत गुण हैं।

आत्मा का सर्वदर्शीपना किसी निमित्त के सन्मुख देखने से विकसित नहीं होता; और पुण्य

के या वर्तमान पर्याय के आश्रय से भी उसका विकास नहीं होता; जिसमें त्रिकाल सर्वदर्शित्व सामर्थ्य विद्यमान है, ऐसे द्रव्य के लक्ष से ही सर्वदर्शित्व का परिपूर्ण विकास होता है; इसलिये द्रव्यदृष्टि करना ही तात्पर्य है—ऐसा सिद्ध होता है। किसी निमित्त में या राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि सर्वदर्शिता प्रदान करे। अपूर्ण पर्याय में भी सर्वदर्शिता देने की शक्ति नहीं है; सर्वदर्शिता प्रदान करने की शक्ति तो त्रिकाली द्रव्य में ही है, इसलिये द्रव्य का आश्रय करके परिणमित होना ही सर्वदर्शी होने का उपाय है।

जो सर्वदर्शित्व प्रगट हुआ, वह सर्व पदार्थों को स्पष्ट देखता है। दूरवर्ती वस्तु को अस्पष्ट देखता है और निकटवर्ती वस्तु को स्पष्ट देखता है—ऐसा भेद उसमें नहीं है। और दूर की वस्तु से लाभ न माने किन्तु शरीर या देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि निकटवर्ती वस्तुओं से लाभ माने—ऐसा भी सर्वदर्शित्व शक्ति में नहीं है। जिसने सर्वदर्शित्व सामर्थ्य की प्रतीति की है, वह जीव किसी भी परवस्तु से लाभ-हानि नहीं मानता। सर्वदर्शित्व तो आत्मदर्शनमय है; उसका संबंध पर के साथ नहीं है; तब फिर महाविदेहादि दूर की वाणी से लाभ नहीं होता और निकटवर्ती साक्षात् वाणी से लाभ होता है—यह बात कहाँ रही ? इसमें कहीं परावलम्बन या पर में राग-द्वेष करना नहीं रहता; मात्र स्वद्रव्य के आश्रय से वीतरागता हो, ऐसी यह बात है।

प्रश्नः—वाणी दूर हो या निकट हो, उससे तो कुछ समझ में नहीं आता, स्वतः अपने से ही समझ में आता है; तब फिर सत्समागम का क्या मतलब ?

उत्तरः—"अहो! चाहे जहाँ मुझे अपने आत्मा से—स्वतः से ही ज्ञान होता है"—यह बात जिसे अंतर में रुचि, उसे वैसा सुनानेवाले ज्ञानियों के प्रति बहुमान आये बिना नहीं रहता; और इसलिये उसे सत्समागम की भावना हुए बिना नहीं रहती; परन्तु श्रवण के समय भी उसके लक्ष में तो ऐसा है कि मैं जितना अपने स्वभाव की रुचि और भावना का पोषण करता हूँ, उतना ही मुझे लाभ है; निमित्त से या निमित्त की ओर के राग से मुझे लाभ नहीं है।

महाविदेहक्षेत्र ठीक है और भरतक्षेत्र ठीक नहीं है—ऐसा अच्छे-बुरे का भाव करना आत्मा की किसी शक्ति में नहीं है; निर्बलता के कारण कभी-कभी ऐसा विकल्प उठता है, किन्तु वहाँ धर्मी को निःशंकता है कि यह विकल्प मेरे स्वरूप में से नहीं आया है; मेरे स्वरूप में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो विकल्प को परिणमित करे। मेरी सर्वदर्शी शक्ति सर्व को देखनेवाली है परन्तु किसी को अच्छा-बुरा माननेवाली नहीं है। आत्मा की अनंत शक्तियों को भी सर्वदर्शी शक्ति देखती

है। जिसने आत्मा को देख लिया, उसने सबकुछ देख लिया। सर्वदर्शीशक्ति आत्मदर्शनमय है, इसलिये लोकालोक को देखने के लिए आत्मा को बाहर नहीं झाँकना पड़ता, किन्तु आत्मस्वभाव को देखने से लोकालोक ज्ञात हो जाता है। एक गुण की प्रतीति करते हुए तभी सम्पूर्ण आत्मा ही प्रतीति में आ जाता है। पूर्ण आत्मा को जाने, तभी एक गुण का यथार्थ ज्ञान होता है; एक भी गुण को यथार्थ समझने से अनंत गुण का पिण्ड समझ में आ जाता है। एक गुण को भी कब यथार्थ समझा कहा जाता है ?—एक गुण का भेद करके यदि उनका आश्रय करने जाये तो उसने एक गुण को ही सम्पूर्ण वस्तु मान लिया है; इसलिये एक गुण को भी यथार्थ नहीं जाना है। एक गुण को जानने से, उसके साथ अभेदरूप पूर्ण द्रव्य को पकड़ ले, तभी गुण को जाना कहा जाता है; क्योंकि गुणों से पृथक् गुण नहीं रहता। अनेक शक्तियाँ हैं, इसलिये कहीं आत्मा में भेद नहीं पड़ जाता; आत्मा में तो अनंत शक्ति से अभेदता है। उस अभेदता के आश्रयपूर्वक ही भिन्न-भिन्न शक्तियों का यथार्थ ज्ञान होता है।

आत्मा की सर्वदर्शित्व शक्ति लोकालोक को देखती है, तथापि वह निराकार है; लोकालोक को देखने से वह साकार नहीं हो जाती, क्योंकि वह भेद किए बिना सर्व को सत्तामात्र ही देखती है; स्वयं निराकार आत्मदर्शनरूप परिणमित होकर सर्व को भेदरहित देखती है। जड़ या चेतन, सिद्ध या संसारी, भव्य या अभव्य—ऐसे विशेष भेद, वह ज्ञान का विषय है। दर्शन वैसे भेद किए बिना सामान्य सत्ता का प्रतिभास करता है। अनंत गुणों के पिण्ड अखण्ड आत्मा को भी दर्शनशक्ति देखती है, इसलिये सर्वदर्शी शक्ति की प्रतीति में अखण्ड आत्मा की प्रतीति भी साथ ही है।

लोकालोक को देखने का सर्वदर्शित्व शक्ति का सामर्थ्य है, वह उपचार से नहीं है परन्तु स्वभाव से ही है। ऐसी सर्वदर्शित्व शक्ति आत्मा के ज्ञानमात्र भाव के साथ ही परिणमित हो रही है। आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि अनंत गुणों का परिणमन एकसाथ ही हो रहा है। केवली भगवान के पहले ज्ञान परिणमित होता है और फिर दर्शन;—इसप्रकार जो ज्ञान-दर्शन का क्रम मानता है, उसने एकसाथ अनंत शक्तिवाले आत्मा को नहीं जाना है; उसे वास्तव में केवली प्रभु की प्रतीति नहीं है और आत्मा की भी प्रतीति नहीं है। ज्ञान जहाँ स्वभाव का आश्रय करके परिणमित हुआ, वहाँ अनंत गुणों का परिणमन उसके साथ ही उछल रहा है। ऐसे अनंत धर्मों से परिणमित एक आत्मा को जानने का नाम अनेकान्तधर्म है और वही मोक्षमार्ग है।

[यहाँ नववीं सर्वदर्शित्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

''आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?''

[१०]

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर पूज्य स्वामीजी के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार

[अङ्क ९९ से आगे]

[श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में जिज्ञासु जीव प्रश्न करता है कि—''प्रभो! यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?'' उसके उत्तर में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि ''आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है, और अनंत नयात्मक श्रुतज्ञानप्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है।'' ऐसे आत्मद्रव्य का ४७ नयों से वर्णन किया है; उसमें से १७ नयों के प्रवचन अभी तक आ गये हैं; आगे यहाँ दिये जा रहे हैं।]

चैतन्यमूर्ति आत्मा अनंतधर्मों से महिमावंत है। जिसे अपना अपूर्व आत्महित प्रगट करना हो, उसे आत्मा के स्वभाव को यथावत् समझना चाहिए। आत्मस्वभाव को यथावत् समझे बिना उसकी महिमा नहीं आती और पर की महिमा दूर नहीं होती। आत्मा की महिमा आये बिना ज्ञान उसमें स्थिर नहीं होता अर्थात् आत्महित प्रगट नहीं होता। आत्मा को जानने से उसकी महिमा आती है और ज्ञान उसमें स्थिर होता है, इसलिये आत्महित प्रगट होता है। इसलिये जो जीव आत्महित का कामी हो, उसे सत्समागम से आत्मा के स्वभाव को जानना चाहिए।

प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है और उसमें अनंतधर्म हैं;—ऐसी वस्तुस्वरूप की बात जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र तो सुनने को भी नहीं मिल सकती। सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य मतवादियों ने

वस्तुस्वरूप को यथार्थ नहीं जाना है परन्तु अपनी-अपनी कल्पनानुसार उसकी कल्पना कर ली है। जगत में अनंत आत्मा और अनंत परमाणु स्वतंत्र-स्वयंसिद्ध तत्त्व हैं; वह प्रत्येक पदार्थ एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवता सहित है; प्रत्येक आत्मा असंख्यप्रदेशी और अनंत धर्मों से परिपूर्ण है—ऐसी बात सर्वज्ञ-शासन के अतिरिक्त अनय कहाँ है ? श्री समन्तभद्राचार्यदेव स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं कि ''हे जिनेन्द्र ! सारा जगत प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुव लक्षणवाला है—ऐसा जो तेरा वचन है, वह तेरी सर्वज्ञता को घोषित करता है।'' ध्रुवता-अपेक्षा से वस्तु नित्य है और उत्पाद-व्यय अपेक्षा से वस्तु अनित्य है; इसप्रकार एक ही वस्तु में नित्य-अनित्यपना एक ही साथ विद्यमान है। अज्ञानियों को यह बात विरोधाभास जैसी लगती है कि अरे ! जो नित्य हो, वही अनित्य कैसे हो सकता है ? प्रत्येक वस्तु में अनंतधर्म हैं—यह बात अज्ञानियों की समझ में नहीं आती। परन्तु द्रव्यरूप से जो वस्तु नित्य है, वही वस्तु पर्यायरूप से अनित्य है—ऐसा यथार्थ वस्तुस्वरूप समझने से ज्ञानियों को तो प्रमोद आता है कि अहो ! ऐसी अपूर्व बात हमने पहले कभी नहीं सुनी थी।

मिथ्याज्ञान का विषय जगत में नहीं है अर्थात् मिथ्याज्ञान निरर्थक है

वस्तु एकसाथ अनंत धर्मोंवाली है; उसे न मानकर वस्तु को एकान्त क्षणिक या एकान्त नित्य ही माने तो वह ज्ञान मिथ्या है; और उस मिथ्याज्ञान के विषयभूत कोई वस्तु इस जगत में नहीं है। जिस ज्ञान के अभिप्रायानुसार वस्तु जगत में न हो, उसे मिथ्याज्ञान कहते हैं। जगत में पदार्थ जिस स्वरूप से सत् हैं, उस स्वरूप से न मानकर असत् कल्पना करता है; इसलिये वह ज्ञान असत् है। उस मिथ्याज्ञान का विषय अर्थात् उसकी कल्पनानुसार पदार्थ इस जगत में हैं ही नहीं। जगत में मिथ्याज्ञान है परन्तु उसका ज्ञेय नहीं है। अहो ! सारा जगत सम्यग्ज्ञान का ही विषय है। यदि ज्ञान के अनुसार वस्तु का स्वरूप हो तो वह ज्ञान मिथ्या नहीं कहलाता; परन्तु जिस ज्ञान के अनुसार वस्तु का स्वरूप न हो, उस ज्ञान को मिथ्या कहते हैं अर्थात् मिथ्याज्ञान का विषय ही जगत में नहीं है। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण:—

जैसे कोई कहे कि मैं आकाश के फूल को तोड़ता हूँ; तो उसकी बात मिथ्या है, क्योंकि आकाश का फूल जगत में है ही नहीं। उसीप्रकार कोई माने कि मैं परद्रव्य की क्रिया करता हूँ; तो उसकी मान्यता भी मिथ्या है; क्योंकि जगत में कोई आत्मा ऐसा नहीं है कि जो परद्रव्य की क्रिया कर सके। जिसप्रकार आकाश का फूल जगत में कोई वस्तु ही नहीं है, उसीप्रकार पर की क्रिया कर सके, ऐसी वस्तु ही जगत में नहीं है। इसलिये ''मैं पर का कुछ कर सकता हूँ''—ऐसी मिथ्या

मान्यता का विषय इस जगत में नहीं है। वह मिथ्या मान्यता पर में निरर्थक और आत्मा में अनर्थकारी है।

जगत में अज्ञानी का मिथ्या-अभिप्राय है परन्तु उसके मिथ्या-अभिप्रायानुसार ज्ञेय पदार्थ जगत में नहीं है। कोई ऐसा माने कि "जगत में एक सर्वव्यापक आत्मा ही है और दूसरा सब सर्वथा भ्रम है," तो उसका ज्ञान मिथ्या है; उसके मिथ्याज्ञानानुसार जगत में वस्तुस्वरूप नहीं है।

कोई ऐसा माने कि "आत्मा सर्वथा कूटस्थ नित्य ही है," तो उसका ज्ञान भी मिथ्या; क्योंकि उसकी मान्यतानुसार सर्वथा कूटस्थ आत्मा जगत में है ही नहीं।

कोई कहे कि—उसने आत्मा को तो माना है न? इतना तो उसका सत्य है न?

उत्तर: —उसने वास्तव में आत्मा को माना ही नहीं है। उसने जिस स्वरूप से आत्मा को माना है, वैसा आत्मा जगत में है ही नहीं; और जैसा आत्मा है, वैसा नहीं माना है; इसलिये उसने आत्मा को नहीं माना है।

और इसीप्रकार कोई ऐसा माने कि "आत्मा सर्वथा क्षणिक ही है"—तो उसका ज्ञान भी मिथ्या है; क्योंकि उसकी मान्यतानुसार सर्वथा क्षणिक आत्मा जगत में है ही नहीं। इसप्रकार मिथ्याज्ञान का विषय ही जगत में नहीं है।

कोई ऐसा माने कि "पुण्य से धर्म होता है," तो उसकी मान्यतानुसार ज्ञेय जगत में नहीं है, इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या है।

उपादान-निमित्त के सम्बन्ध में कोई ऐसा माने कि निमित्त के कारण उपादान का कार्य होता है, तो उसके ज्ञान का विषय जगत में नहीं है; क्योंकि निमित्त के कारण उपादान का कार्य हो, ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या है। जिसप्रकार वंध्या-सुत कोई वस्तु ही नहीं है, उसी प्रकार जगत में मिथ्याज्ञान का विषय ही नहीं है; अर्थात् मिथ्याज्ञान निरर्थक है।

आत्मा अनंत धर्मों के पिण्डस्वरूप है; वह सम्यग्ज्ञान का विषय है। अनंत धर्म के पिण्डस्वरूप आत्मा को जाने बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। अनंतधर्मस्वरूप आत्मा को बतलाने के लिये यहाँ आचार्यदेव ने ४७ नयों से उसका वर्णन किया है; उसमें १७ नयों का विवेचन आ गया है; अब, नित्यनय और अनित्यनय से आत्मा का वर्णन करते हैं।

(१८) नित्यनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य नित्यनय से, नट की भाँति, अवस्थायी है। जिसप्रकार राम-रावणरूप अनेक

अनित्य स्वांग धारण करने पर भी नट तो वह का वही है; उसीप्रकार पर्यायें प्रतिक्षण बदलती होने पर भी द्रव्यरूप से आत्मा नित्यस्थायी है; ऐसा आत्मा का धर्म है, उसे नित्यनय जानता है।

यहाँ आत्मा को अवस्थायी कहा, उससे ऐसा नहीं समझना कि उसकी पर्याय बदलती ही नहीं! यहाँ तो, नित्यनय से आत्मा का स्वभाव कैसा है, वह बतलाने के लिये उसे अवस्थित कहा है; मनुष्य, स्वर्ग, नरकादि के अनंत अवतार हुए हैं तथापि, आत्मा वह का वही अवस्थित है; अवतार बदलने से आत्मा नहीं बदल जाता—ऐसा उसका नित्य धर्म है, और उसी समय उसमें अनित्य धर्म भी साथ ही विद्यमान है। यदि आत्मा के अनित्य धर्म को न माने अर्थात् उसकी पर्याय प्रतिक्षण बदलती है, ऐसा न माने, और सर्वथा अवस्थित ही माने तो उसका श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं होता; इसलिये उसका नित्य भी सच्चा नहीं रहता। वस्तु के अनित्य धर्म को माने बिना बंध-मोक्ष इत्यादि कोई कार्य सिद्ध नहीं होते।

जिसप्रकार नाटक में काम करनेवाला नट कभी राम का वेश धारण करता है और कभी रावण बनता है; कभी भर्तृहरी का वेश धारण करता है और कभी पिंगला बन जाता है;—इसप्रकार अनेक वेश धारण करने पर भी नट तो वह का वही है। उसी प्रकार इस संसाररूपी नाटक में जीव कभी राजा, कभी भिखारी, कभी मनुष्य और कभी देव, कभी पुरुष और कभी स्त्री—इसप्रकार भिन्न-भिन्न क्षणिक पर्यायों को धारण करता है, तथापि स्वयं जीवरूप से नित्य अवस्थित है; ऐसा उसका धर्म है।

नाटक में राम-रावणादि पृथक्-पृथक् वेश धारण करने पर भी नट स्वयं नटरूप से स्थायी रहता है; नटपना छोड़कर वह कहीं भैंसा या सिंह नहीं हो जाता; उसीप्रकार आत्मा स्वर्ग-नरक, राजा और मुनित्व आदि नवीन-नवीन क्षणिक पर्यायें धारण करने पर भी आत्मा मिटकर अन्यरूप नहीं हो जाता, परन्तु आत्मारूप से नित्यस्थित रहनेवाला है। आत्मा में एकसाथ अनंत धर्म हैं; उनमें से, नित्यनय से देखने पर आत्मा नित्यधर्म स्वरूप प्रतिभासित होता है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवसहित ही प्रत्येक वस्तु है; आत्मा भी एकसमय में उत्पाद-व्यय और ध्रुवता—ऐसे तीन अंशों को धारण करता है। उसमें उत्पाद-व्यय अपेक्षा से क्षणिकता है और ध्रुव अपेक्षा से नित्यता। ध्रुव अपेक्षा से देखने पर आत्मा नित्यरूप से दिखाई देता है, और उत्पाद-व्यय अपेक्षा से देखने पर वही आत्मा क्षणिकरूप से दिखाई देता है। अहो! ऐसा वस्तुस्वभाव सर्वज्ञ भगवान के शासन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं सुनने को नहीं मिलता। सर्वज्ञ के मार्ग के अतिरिक्त

ऐसा अनेकान्त स्वरूप नहीं जाना जा सकता और जो ऐसा अनेकान्त स्वरूप जाने, वह सर्वज्ञ हुए बिना नहीं रहता।

सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त दूसरों ने पूर्ण वस्तुस्वरूप को जाने बिना उसके एक-एक अंश को पकड़कर उसी को वस्तुस्वरूप मान लिया है। जिसप्रकार अंधे के हाथ में हाथी का जो अंग आया, उसी को उसने पूरा हाथी मान लिया; उसीप्रकार अज्ञानियों ने वस्तु के एक धर्म को पकड़कर उसी को पूर्ण वस्तु मान लिया है। वेदांतादि वस्तु के एक नित्यधर्म को पकड़कर आत्मा को एकान्त नित्य ही मानते हैं और बौद्ध अकेले अनित्य धर्म को पकड़कर आत्मा को एकान्त क्षणिक ही मानते हैं; उन्होंने यथार्थ वस्तु को नहीं जाना है और उनका अंश भी सच्चा नहीं है। जैन में सर्वज्ञभगवान कहते हैं कि आत्मा में नित्यपना और अनित्यपना—दोनों धर्म एकसाथ ही विद्यमान हैं; और इसप्रकार प्रत्येक वस्तु में अनंतधर्म एकसाथ स्थित हैं। इसप्रकार पूर्ण वस्तु के स्वीकारपूर्वक किसी अपेक्षा से उसे नित्य और किसी अपेक्षा से अनित्य कहे तो उसके नित्य-अनित्य दोनों अंश सत्य हैं। वेदान्तमतवादी वस्तु को एकान्त नित्य मानते हैं परन्तु उसके साथ विद्यमान अनित्य अंश का स्वीकार नहीं करते, इसलिये उनका नित्य अंश भी सच्चा नहीं है। और बौद्धमतवादी वस्तु को एकान्त क्षणिक मानते हैं परन्तु उसके साथ विद्यमान दूसरे नित्य अंश को स्वीकार नहीं करते; इसलिये उनका क्षणिक अंश भी सच्चा नहीं है। जिसका अंशी सच्चा नहीं है, उसका अंश भी मिथ्या है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना उसके एक धर्म का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। एक धर्म से वस्तु का कथन करते समय दूसरे अनंत धर्म भी उसी समय वस्तु में विद्यमान हैं; उनके स्वीकार बिना एक धर्म की स्वीकृति भी सच्ची नहीं है। इसलिये सभी पक्षों से वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिए।

नित्यस्थायी वस्तु को ध्रुव-अवस्थित कहा; परन्तु उसी समय वस्तु में अनित्यधर्म भी विद्यमान है; इसलिये अब अनित्यनय से उसका वर्णन करते हैं।

(१९) अनित्यनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य अनित्यनय से, राम-रावण की भाँति, अनवस्थायी है। जिसप्रकार नट द्वारा धारण किये जानेवाले राम-रावणादि के वेश क्षणिक हैं, उसीप्रकार अनित्यधर्म की अपेक्षा से देखने पर आत्मा क्षणिक है। अनित्यनय से आत्मा को अनित्य धर्मरूप से देखते समय भी धर्मी को आत्मा की नित्यता का भान साथ ही वर्तता है।

आत्मा की नित्यता के बिना दुःख-सुखादि पर्यायें द्रव्य की हैं—ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता। दुःख दूर करके सुख प्रगट किया—उन दोनों दशाओं में अखण्डरूप रहकर जीव उस सुख-दुःख का वेदन करता है—ऐसा नित्यता के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। और अनित्यता के बिना दुःख को दूर करके सुख करना, श्रवण-मनन करना इत्यादि कोई कार्य नहीं हो सकते। नित्यता और अनित्यता—ऐसे दोनों धर्मों के बिना आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। आत्मा में अनित्यपना और नित्यपना—यह दोनों धर्म त्रिकाल हैं।

कोई ऐसा कहे कि—''संसारदशा के समय तो आत्मा में अनित्यधर्म है, परन्तु सिद्ध होने के पश्चात् वह नहीं रहता;''—तो ऐसा नहीं है। सिद्ध के आत्मा में भी अनित्यधर्म विद्यमान है। केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट होने के पश्चात् ज्यों के त्यों अनंतकाल रहते हैं, तथापि वहाँ भी प्रतिक्षण परिणमन तो होना ही रहता है।

दुःख और सुख दोनों अवस्थाओं में यदि आत्मा की अखण्डता न हो तो दुःख दूर होकर सुख प्रगट हुआ, उसका उपभोग कौन करेगा? और यदि आत्मा में क्षणिकता न हो तो दुःख का नाश होकर सुख कैसे प्रगट होगा? इसलिये आत्मा ध्रुवरूप से नित्यस्थायी होने पर भी उत्पाद-व्ययरूप से क्षणिक भी है; द्रव्यरूप से अखण्ड रहकर प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायरूप उत्पन्न होता है और पुरानी पर्याय से नाश को प्राप्त होता है। जिसप्रकार राम के वेश के समय रावण का वेश नहीं होता और रावण के वेश के समय राम का वेश नहीं होता; इसलिये वेश अपेक्षा से क्षणिकता है, परन्तु नट तो सभी स्वांगों में अखण्डरूप से विद्यमान है। उसीप्रकार आत्मा में संसार के समय सिद्धदशा नहीं होती और सिद्धदशा के समय संसार नहीं होता; इसलिये पर्याय-अपेक्षा से आत्मा अनित्य है और संसार या सिद्ध—समस्त पर्यायों में अखण्डरूप से आत्मा विद्यमान है, उस अपेक्षा से वह नित्य है।

शास्त्र में कभी-कभी केवलज्ञान और सिद्धदशा को 'कूटस्थ' भी कहा जाता है; कूटस्थ कहकर वहाँ परिणमन का अभाव नहीं बतलाना है, परन्तु प्रतिसमय परिणमन होने पर भी सदृशरूप केवलज्ञान और सिद्धदशारूप ही परिणमन होता है; अन्यथा परिणमन नहीं होता, उस अपेक्षा से उसे कूटस्थ कहा है—ऐसा समझना। ''उत्पादव्ययध्रोव्ययुक्तं सत्''—अर्थात् जो सत् हो, वह निरंतर उत्पाद-व्यय-ध्रुवसहित ही होता है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव कहो अथवा नित्य-अनित्य धर्म कहो; उसके बिना कोई वस्तु हो ही नहीं सकती।

एकबार एक वेदान्ती चर्चा सुनने आया। थोड़ी देर बैठकर चर्चा सुनी; लेकिन जब अनित्य पर्याय की बात आयी कि भड़क उठा; और ''मुझे अनित्य पर्याय की बात नहीं सुनना है''—ऐसा कहकर भागा। किन्तु भाई! इतना तो विचार कर कि, तू पहले की अपेक्षा कुछ नवीन जानने के लिये आया—वही तेरे ज्ञान की अनित्यता सिद्ध करता है। पहले सुनने की जिज्ञासा से आया और फिर ऐसा लगा कि मुझे यह बात सुनना ही नहीं है; वहाँ तेरे विचार बदले या नहीं? यदि आत्मा की सर्वथा नित्यता हो तो ऐसा विचारों का परिवर्तन नहीं हो सकता।

और यदि आत्मा में अनित्यता बिल्कुल न हो तो ''आत्मा नित्य है''—ऐसा उपदेश ही नहीं हो सकता; क्योंकि सामनेवाला जीव आत्मा को नित्य नहीं मानता और अब उससे नित्य मानने को कहते हैं; वहीं उसकी मान्यता की क्षणिकता सिद्ध हो गई।

इसप्रकार आत्मा में नित्यधर्म और अनित्यधर्म—दोनों एकसाथ ही विद्यमान हैं। 'नय' उन्हें मुख्य-गौण करके जानते हैं, परन्तु वस्तु में तो समस्त धर्म एक साथ ही विद्यमान हैं।

यहाँ उन्नीसवें अनित्यनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध

सम्यग्दर्शन निमित्त-नैमित्तिक संबंध को स्वीकार नहीं करता; सम्यग्दर्शन तो निमित्तों से निरपेक्ष शुद्ध चैतन्यद्रव्य का ही स्वीकार करता है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध तो पर्याय में है; परन्तु पर्याय, सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है; सम्यग्दर्शन का विषय शुद्ध द्रव्य है, उसमें निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं होता। मैं पर का कर्ता हूँ—ऐसी बुद्धि तो महान मिथ्यात्व है, और मैं पर को निमित्त हूँ—ऐसी दृष्टि जबतक रहे, तबतक मिथ्यात्व दूर नहीं होता। जबतक पर को निमित्त होने पर दृष्टि है, तबतक पर के ऊपर दृष्टि है। शुद्ध द्रव्य उसकी प्रतीति में नहीं आता, इसलिये उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता।

आत्मा शुद्ध ज्ञानानंदस्वभाव है, उसमें तो कोई निमित्त नहीं है; उस स्वभाव का अवलम्बन

छोड़कर स्वयं विकारभाव करता है, तब उसमें पर निमित्त होता है। यदि पर निमित्त के लक्ष बिना अकेले स्वभाव के लक्ष से ही विकार होता हो तो वह सहजस्वभाव हो जाये! और यदि निमित्त विकार कराता हो तो जीव उसे कभी दूर नहीं कर सकता; इसलिये जीव अपने दोष से विकार करता है, तब उसे कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, परन्तु कर्म जीव को विकार कराते हैं—ऐसा नहीं है।

कर्म जीव को विकार कराते हैं—ऐसा जो मानता है, उसके तो पर के साथ कर्ताकर्म की बुद्धि का स्थूल मिथ्यात्व है। और कर्म जीव को विकार नहीं कराते, किन्तु जब जीव अपनी योग्यता से विकार करे, तब कर्म उसमें निमित्त होते हैं;—इसप्रकार निमित्त-नैमितितक संबंध जानकर, उसी पर दृष्टि रखे, किन्तु पर्याय और निमित्त का लक्ष छोड़कर स्वभावोन्मुख न हो तो उसके भी मिथ्यात्व दूर नहीं होता; वह जीव पर्यायबुद्धि में रुक गया है। जबतक निमित्त-नैमित्तिक पर लक्ष रहता है, तबतक राग की उत्पत्ति होती है और निरपेक्ष ज्ञानानन्दस्वभाव के लक्ष से एकाग्र होने से राग की उत्पत्ति नहीं होती, तथा निमित्त-नैमित्तिक का भी अभाव होता जाता है। जहाँ निमित्त, राग और पर्याय की रुचि छोड़कर शुद्ध अखण्ड स्वभाव की रुचि प्रगट की और सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ मिथ्यात्व-कर्म के साथ के निमित्त-नैमित्तिक भाव का अभाव हो गया, तथा कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और मधु-मांस-मदिरादि के साथ का निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी छूट गया। इसप्रकार स्वभाव के आश्रय से ज्यों-ज्यों शुद्धता की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों राग छूटता जाता है और राग के निमित्त के साथ का संबंध भी छूटता जाता है। जहाँ मुनिदशा प्रगट हो, वहाँ वस्त्रादि परिग्रह के साथ का निमित्त-नैमित्तिक संबंध छूट जाता है और मात्र शुद्ध ज्ञेय-ज्ञायक संबंध ही रहता है।

अपने भाव में जिसने जिसप्रकार के निमित्त का स्वीकार किया, उसके अपने में उसप्रकार का नैमित्तिक भाव बना ही है। जिसने मिथ्यात्वकर्म को अपने निमित्तरूप से स्वीकार किया, उसके अपने में नैमित्तिकरूप से मिथ्यात्वभाव बना ही है; इसीप्रकार सभी में समझ लेना। प्रथम सर्व निमित्त-नैमित्तिक सबंधं की दृष्टि छोड़कर ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ मिथ्यात्व के निमित्तों के साथ का निमित्त-नैमित्तिक संबंध छूट जाता है, और पश्चात् स्वभाव में एकाग्रता से ज्यों-ज्यों शुद्धता प्रगट होती है, त्यों-त्यों अशुद्धता छूटती जाती है तथा परद्रव्य के साथ का निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी छूटता जाता है; इसप्रकार जान ले तो निमित्त-नैमित्तिक संबंध को जाना कहलाये; परन्तु निमित्त के कारण विकार होता है अथवा कर्म के उदयानुसार ही

जीव को राग-द्वेष होते हैं—ऐसा जो माने, उसे तो निमित्त-नैमित्तिक संबंध का भी ज्ञान नहीं है; और जिस भूमिका में जिन पदार्थों के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध न हो, उस भूमिका में उन पदार्थों के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध मनाए तो उसे भी निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान नहीं है। जैसे कि—मुनिदशा में वस्त्र के साथ का निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता ही नहीं; तथापि वहाँ वस्त्र मनाए तो उसको मुनिदशा का और निमित्त-नैमित्तिक संबंध का भान नहीं है। केवलज्ञानदशा प्रगट हो गई हो और आहार करना माने तो उस जीव को, केवलज्ञानदशा में कैसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता है, उसका भान नहीं है तथा केवलज्ञान की भी उसे पहिचान नहीं है। शुद्धस्वभाव की दृष्टि निमित्त का स्वीकार नहीं करती, परन्तु जिसे ऐसी अपूर्व दृष्टि प्रगट हुई हो, उस जीव को स्वपरप्रकाशक ज्ञान के विकास में निमित्त-नैमित्तिक संबंध का यथार्थ ज्ञान होता है; किस भूमिका में कैसे निमित्त होते हैं और कैसे निमित्तों का संबंध छूट जाता है—इसका उसे बराबर विवेक होता है।

[प्रवचन से]

अगर भव से छूटना हो तो.....

हे जीव! यदि तुझे भव से छूटना हो, पुण्य-पाप की पराधीनता से मुक्त होना हो, पूर्ण स्वतंत्र सहजात्मस्वभाव अखण्डानन्दी आत्मभाव प्रगट करना हो, तो 'मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ'—इसप्रकार आत्मा को समझने से ही छुटकारा है। उसे समझने के लिये निवृत्ति लेकर, आत्मज्ञानी के निकट से सत् का श्रवण करके आत्मा का खूब मनन और माहात्म्य करना चाहिए। जो पूर्वकाल में कभी नहीं समझा है, ऐसे सूक्ष्म और यथार्थ विषय को समझने के लिये अत्यन्त तीव्र एवं सत् पुरुषार्थ की आवश्यकता है।

'श्राविका-ब्रह्मचर्याश्रम' की स्वाध्यायशाला की

दीवारों पर से

कर्तव्य

जीव को मुख्य में मुख्य और अवश्य में अवश्य ऐसा निश्चय रखना चाहिए कि मुझे जो कुछ करना है, वह आत्मा को कल्याणरूप ही करना है। —श्रीमद् राजचन्द्र

नमस्कार

हमारे जीवन को उज्ज्वल करनेवाले और हम पामरों को सत्पथ पर ले जानेवाले हे परमोपकारी श्री सद्गुरुदेव! आपके चरणकमलों में भक्तिपूर्वक नमस्कार हो!

पवित्र आश्रम

अर्हंतने, श्री सिद्धने य नमस्करण करी ओ रीते;
गणधर अने अध्यापकोने, सर्वसाधु समूहने।
तसु शुद्ध दर्शनज्ञान मुख्य 'पवित्र आश्रम' पामीने;
प्राप्ति करूं हुं साम्यनी जेनाथी शिवप्राप्ति बने। —श्री प्रवचनसार (गुजराती)

सिद्ध भगवन्तों का परम सुख

आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवत् वीतबाधं विशालं।
वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्व भावम्॥
अन्यद्रव्यानपेक्षं निरूपममममितं शाश्वतं सर्वकालं।
उत्कृष्टानंतसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम्॥७॥ —श्री सिद्धभक्ति

मनोरथ

ऊंडी ऊंडी ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति ! तारी उरअनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं-मनरथ मननो, पूरजो शक्तिशाली । —श्री सद्गुरुदेव की स्तुति (गुजराती)

चारित्र-धर्म-साम्य

स्वरूप में विचरना वह चारित्र है ।
स्वसमय में प्रवृत्ति ऐसा उसका अर्थ है ।
वही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है ।
शुद्ध चैतन्य का प्रकाशित होना ऐसा उसका अर्थ है ।
वही यथास्थित आत्मगुण होने से साम्य है । —श्री प्रवचनसार टीका

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान

प्रथम ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके पश्चात् मतिज्ञानतत्त्व को तथा श्रुतज्ञानतत्त्व को भी आत्मसन्मुख करता हुआ अत्यन्त विकल्परहित होकर तत्काल निजरस से ही प्रगट होनेवाले आदि-मध्य-अंतरहित अनाकुल, केवल एक, समस्त विश्व पर मानों तैरता हो, ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनंत, विज्ञानघन, परमात्मरूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है, उसीसमय आत्मा सम्यक्रूप दृष्टिगोचर होता है; इसलिये समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है । —श्री समयसार-आत्मख्याति

भावना

मिथ्यात्व-आदिक भावने चिरकाल भाव्या छे जीवे,
सम्यक्त्व-आदिक भाव रे ! भाव्या नथी पूर्वे जीवे ।

भवावर्त में पूर्वकाल में जो भावनाएँ नहीं भायी थीं, वे अब मैं भाता हूँ। वे भावनाएँ पूर्वकाल में नहीं भायी हैं, इसलिये मैं उन्हें भव के अभाव के लिये भाता हूँ। —श्री नियमसार

मुमुक्षु का कर्तव्य

प्रत्यक्ष सत्समागम में भक्ति-वैराग्यादि दृढ़ साधन सहित मुमुक्षु को सद्गुरु आज्ञा से द्रव्यानुयोग की विचारणा करने योग्य है। — श्रीमद् राजचंद्र

वस्तुस्वभाव

जे द्रव्य छे पर तेहने न ग्रही न छोडी शकाय छे,
अेवो ज तेनो गुण को प्रायोगी ने वैस्रसिक छे। — श्री समयसार (गुजराती)

सच्चा प्रारम्भ

''पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ — वही सच्चा प्रारम्भ है।'' —पूज्य स्वामीजी

धर्म का मूल

''दंसण मूलो धम्मो'' — धर्म का मूल (सम्यक्) दर्शन है। — श्री अष्टप्राभृत

कर्ता अथवा ज्ञाता

जो करता है, वह मात्र करता ही है और जो जानता है, वह मात्र जानता ही है; जो करता है, वह कभी जानता नहीं है और जो जानता है, वह कभी करता नहीं है। — श्री समयसार-कलश ९६

पात्रता

पात्र बिना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिक ज्ञान;
पात्र थवा सेवो सदा ब्रह्मचर्य मतिमान। (गुजराती)

[शेष टाइटिल पृष्ठ २ पर]

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक
प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	भजनमाला	
समयसार प्रवचन भाग २	५)	(अजमेर भजन-मण्डली की)	
समयसार प्रवचन भाग ३	४)	मूल में भूल	
प्रवचनसार हिंदी		मुक्ति का मार्ग	
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	अनुभवप्रकाश	
आत्मावलोकन	१)	अष्टपाहुड़	३)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१)	चिद्विलास	१)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	दसलक्षणधर्म	)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५)	जैन बालपोथी	)
समयसार पद्यानुवाद	)	सम्यक्दर्शन	२)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	)	स्तोत्रत्रयी	)
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)	भेदविज्ञानसार	२)
आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७ वर्ष	प्रत्येक का ३)	पंचमेरु पूजन	)

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: मुद्रक-प्रकाशक :
श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये
जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया